

शिक्षकों की कलम से

विगत कुछ अंकों से हमने एक नया कॉलम शुरू किया है जिसके माध्यम से शिक्षक एवं शिक्षक प्रशिक्षक अपने अनुभवों को साझा कर सकें। इस बार तीन अनुभव प्रस्तुत हैं। इन पर अपनी राय दीजिए। साथ ही, एक छोटी-सी गुज़ारिश है कि आप अपने अनुभवों को भी ज़रूर साझा करें।

1. बहुभाषिता और शिक्षक अब्दुल कलाम
2. बदलावों की कथा बुनती दीवार प्रमोद दीक्षित 'मलय'
3. समाचार पत्र और भाषा शिक्षण मनोहर चमोली 'मनु'



बदलावों की कथा बुनती दीवार पत्रिका

प्रमोद दीक्षित 'मलय'

मैं हमेशा से दीवार पत्रिका को बच्चों में लेखन क्षमता, कल्पना, चिन्तन-शक्ति, कलात्मक अभिरुचि, सामूहिकता, सामग्री चयन करने के सम्पादकीय कौशल और भाषाई दक्षता विकसित करने के एक सहज साधन के रूप में देखता-मानता रहा हूँ। लेकिन पिछले दो-तीन वर्षों में, जब से मैंने दीवार पत्रिका पर बच्चों के साथ गम्भीरता से काम करना शुरू किया है, इसके एक नए रूप से मैं परिचित हुआ हूँ और वह है दीवार पत्रिका से होने वाले बदलाव। ये बदलाव बच्चों और विद्यालय के शैक्षिक वातावरण में ही नहीं अपितु विद्यालय के बाहर की दुनिया से भी सम्बन्धित हैं। इसके पहले कि मैं दीवार पत्रिका से होने वाले सामाजिक बदलावों की चर्चा करूँ, थोड़ी-सी चर्चा दीवार पत्रिका की यात्रा की भी करना उचित होगा, ताकि बदलावों की बुनियाद को समझा जा सके।

बाल अखबार की शुरुआत

मैंने नवम्बर 2012 में कुछ नवाचारी शिक्षकों के साथ मिलकर 'शैक्षिक संवाद

मंच' नाम से एक समूह बनाया था। दस विद्यालयों के लगभग 15 शिक्षक मासिक बैठकों में विभिन्न शैक्षिक मुद्दों पर विचार-विमर्श करते थे। एक बैठक में बात उठी कि कक्षा में बच्चों के साथ सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में और उनकी सक्रियता के लिए ऐसी कौन-सी गतिविधियाँ हो सकती हैं जो सहज और रुचिकर हों। शिक्षक साथी अपने-अपने अनुभव के पिटारे से बातें साझा करते हुए सुझाव रख रहे थे। एक सुझाव विद्यालय में बच्चों के अपने बाल अखबार के प्रकाशन का भी आया। सुझाव मेरा था। सभी ने बाल अखबार के बारे में जानना चाहा। मैंने अपनी समझ के अनुसार एक बाल अखबार बनाने की प्रक्रिया के बारे में जानकारी दी। प्रयोग के तौर पर दो विद्यालयों, जिनमें एक प्राथमिक और दूसरा उच्च प्राथमिक स्तर का था, में बाल अखबार पर काम शुरू करना तय हुआ। मुझे ज़िम्मेदारी दी गई कि मैं उन दोनों विद्यालयों में जाकर बच्चों और शिक्षकों के साथ बाल अखबार की रूपरेखा पर चर्चा करते हुए उनमें इसके बारे में एक



समझ बनाने का प्रयास करूँ। दोनों विद्यालयों में मैंने बच्चों के एक चयनित समूह के साथ बाल अखबार पर बात की और मिलकर एक बाल अखबार भी बनाया। एक चार्ट पर विभिन्न समाचार पत्रों में प्रकाशित बालोपयोगी सामग्री की कतरनें चिपकाना, एक सम्पादकीय टिप्पणी लिखना, और कुछ साज-सज्जा कर आकर्षक बनाना – बस यही था हमारे बाल अखबार का प्रारम्भिक रूप और हमारी समझ। तीन-चार अंक निकलने के बाद हमें दो बातें समझ में आईं। पहली यह कि एक चार्ट पर केवल अखबारी कतरनें चिपकाने और कुछ साज-सज्जा कर देने भर से बच्चों में वैसा परिणाम व भाषागत विकास न हो पाएगा जैसा हमने सोचा-चाहा था। दूसरी कि बच्चों में कुछ नया सीख पाने का भाव और रुचि पैदा होने की बजाय उनके लिए यह एक उबाऊ और बोझिल काम के रूप में बदल रहा था। अगली कड़ी में

हमने एक ताव (कागज़) पर बच्चों की मौलिक या किताबों से ली गई रचनाओं को सम्पादक मण्डल द्वारा लिखवाकर बाल अखबार निकालना तय किया। चार पृष्ठ का यह अखबार पहले से बेहतर था। बच्चे इसमें रुचि लेने लगे थे। दोनों विद्यालयों में कई अंक इसी प्रकार निकले, हालाँकि प्राथमिक विद्यालय में काफी कठिनाई आई लेकिन वहाँ कार्यरत शिक्षामित्र के सहयोग से अखबार बनता रहा। मंच के हम सब साथी अभी भी अपने काम से सन्तुष्ट नहीं थे और कुछ बेहतर तलाश रहे थे।

दीवार पत्रिका हुई और समृद्ध

एक दिन, टीचर्स ऑफ इंडिया पोर्टल पर मैंने दीवार पत्रिका पर कुछ सामग्री देखी। इसमें नयापन था। मैंने अधिक जानकारी के लिए पोर्टल के सम्पादक श्री राजेश उत्साही जी से बात की। उत्साही जी ने दीवार पत्रिका की बनावट पर विस्तार से बातें रखते हुए इस पर गम्भीरता से काम कर रहे उत्तराखण्ड के शिक्षक श्री महेश पुनेठा जी से सम्पर्क साधने का सुझाव दिया। महेश जी से दीवार पत्रिका के विभिन्न पक्षों पर जैसे दीवार पत्रिका क्या है, उसमें क्या हो, कैसे हो, उसके महत्व, परिणाम एवं सम्भावनाओं के साथ-साथ उसके आकार-प्रकार, प्रकृति पर

खुलकर बातें हुईं। मंच की अगली बैठक में शिक्षक साथियों से इस पर बात हुई और विद्यालयों में दीवार पत्रिका का एक बिलकुल नया रूप सामने आया जिसमें बच्चों के लिए करने के ज्यादा अवसर तो थे ही, साथ ही बहुत-सी चुनौतियाँ भी थीं। अब दीवार पत्रिका केवल कहानी, कविता, चुटकुले के संक्षिप्त कलेवर से बाहर निकल, न केवल नई विधाओं की रचनास्थली बनकर उभरी बल्कि लोक जीवन के विविध पक्षों को अपने में समेटने-सहेजने को उत्कण्ठित एवं उत्साहित भी दिखी। दीवार पत्रिका में बच्चों के घर-परिवार और उनकी मन की बातें, विद्यालय और गाँव की गतिविधियों के समाचार एवं समस्याएँ, गाँव का अपना इतिहास-भूगोल, नज़री नक्शा, खेती का काम कर रहे किसान-श्रमिक, बुनकर, बाँस से डलिया और मिट्टी से बर्तन बनाने वाले एवं लुहारगिरी से जुड़े दक्ष लोगों के साक्षात्कार शामिल करने से अन्य बच्चों, शिक्षकों और अभिभावकों का ध्यान दीवार पत्रिका की ओर आकर्षित हो रहा था। हमारी दीवार पत्रिका बच्चों के साथ हँसी-ठिठोली, संवाद एवं सवाल करती आगे बढ़ रही थी कि एक घटना ने हम सबको अन्दर तक हिला दिया।

विवादों से जूझते हुए

एक दिन मैं जब स्कूल जा रहा था तो एक रजबहे (छोटी नहर) की पुलिया पर बैठे आठ-दस लोगों के समूह में से दो-तीन लोगों ने एक साथ लगभग

चिल्लाते हुए आवाज़ दी, “अरे मास्साब! रुकिए। आपसे कुछ ज़रूरी बात करनी है।” मैं कुछ भी समझ नहीं पा रहा था क्योंकि इसके पहले गाँववालों ने कभी भी मुझे इस तरह से रोका-टोका नहीं था। पल भर में ही तमाम अनजाने सवाल मेरे दिमाग में तैर गए। मेरे रुकते ही लगभग सभी लोग बोल पड़े, “आप स्कूल में बच्चों से यह सब क्या करवा रहे हैं?” अभी भी मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मुझे चुपचाप खड़ा देख उनमें से एक वृद्ध बोला, “वा जो आप बच्चों से सोहर, दादरा, गारी, फाग, चैती लिखवा रहे हऊ न, तो या कौन-सी पढ़ाई आय? मास्साब! हमरे जमाना मा तौ अस पढ़ाई न होत रहै। हम लरिकन का नीक-भली चार बातें पढ़ें खातिर इस्कूल भेजित है सोहर, गारी सिखें का नाही।”

अब मुझे पूरा प्रकरण समझ में आने लगा था। पिछले दिनों दीवार पत्रिका के लोकगीत विशेषांक की तैयारी का दृश्य मेरे सामने कौंध गया। मैंने सीधा उत्तर देने की बजाय उनसे विनम्रता से कहा, “हम सब लोगों के घरों में किसी बच्चे के जन्म होने, छठी और कुआँ पूजन के समय पर महिलाएँ सोहर गाती हैं, विवाह और अन्य शुभ अवसरों पर भी महिलाओं द्वारा मंगल गीत गाने की परम्परा है। इसी तरह फाग, उमाह (देवी गीत), सैरा-आल्हा, दीवारी आदि पुरुषों द्वारा गाए जाते हैं। मेरी आपसे प्रार्थना है कि अपने-अपने घरों में लड़कियों,

लड़कों और बहुओं से इन परम्परागत लोकगीतों को सुनाने-गाने के लिए कहिए। फिर जब मैं अगली बार आऊँगा तो हम लोग इस पर विस्तार से बात करेंगे।” वे मान गए और मैं अपने विद्यालय के रास्ते पर बढ़ लिया।

तीसरे दिन दोपहर की बात है। मैं कार्यालय में बैठा कुछ ज़रूरी विभागीय काम निपटा रहा था कि तभी उस विद्यालय के प्रधानाध्यापक का फोन आया कि गाँव के कुछ लोग मुझसे बात करना चाहते हैं। उधर से फोन पर ही अपना परिचय और बात करने का सन्दर्भ देते हुए एक स्वर उभरा, “वो मास्साब, मैंने अपने घर में आपके कहे अनुसार गीत सुनाने को कहा लेकिन मेरे बेटे-बेटियों और बहुओं को ऐसे गाने नहीं आते। लेकिन हमें अभी भी यह समझ में नहीं आ रहा कि ऐसा आपने क्यों करवाया।” चार-पाँच लोगों से बातें हुईं, लगभग यही उत्तर सभी के थे।

हुआ यह था कि एक विद्यालय में कक्षा तीन की हिन्दी-पुस्तक ‘कलरव’ पढ़ाते हुए ‘लोकगीत’ शीर्षक नाम से एक पाठ मिला। उस पाठ में आठ-दस पंक्तियों में लोकगीत के बारे में चर्चा की गई थी और इस निर्देश और अपेक्षा के साथ पूरा पृष्ठ खाली छोड़ दिया गया था कि बच्चे अपने-अपने क्षेत्र के कोई एक-दो लोकगीत उसमें लिखें। बच्चों से बातचीत में यह बात भी निकली कि शिक्षकों ने न कभी इस पाठ को पढ़ाया और न ही इस पर

कोई चर्चा की। उस दिन, दिन-भर मैं विचार करता रहा कि यह पाठ क्यों रखा गया होगा। इसके क्या मायने हैं, क्या अन्य कक्षाओं की हिन्दी पुस्तकों में भी ऐसे पाठ होंगे?

खोजने पर मैंने सभी कक्षाओं की पुस्तकों में लोक संस्कृति को उभारने वाले इसी प्रकार के पाठ पाए। मैंने इन सभी पाठों को एकत्र कर ‘शैक्षिक संवाद मंच’ की एक बैठक में विचार-विमर्श के लिए रखा। विचार-विमर्श से निकली बातों का सार हमारे सामने था कि भौतिकता की चकाचौंध में लोग अपनी ग्राम्य संस्कृति को न केवल भूलते जा रहे हैं बल्कि उसे दायम दर्जे का भी मान रहे हैं। बढ़ते शहरीकरण ने गाँवों तक पैर पसार लिए हैं। बाज़ार ने गाँव के हर घर की चौखट पर दस्तक देकर हर व्यक्ति के हाथ में लोभ-लालच का ‘लॉलीपॉप’ थमा दिया है। फलतः लोक में व्याप्त जिन गीत और कथा-कहानियों में लोकजीवन साँसें ले रहा था, उसे समाज ने धीरे-धीरे बिसरा दिया है। साथ ही, फूहड़ और द्विअर्थी फिल्मी गीतों ने आहिस्ता-आहिस्ता घुसपैठ कर उसकी जगह ले ली और हमें पता भी नहीं चला। तो हो सकता है कि भावी पीढ़ी को लोक संस्कृति से परिचित कराने और अपनी विरासत बचाने के लिए इन पाठों को पुस्तकों में जोड़ा गया हो। और यदि ऐसा है तो हमें इस दिशा में काम करने की ज़रूरत है। सभी साथियों ने तय किया कि जूनियर विद्यालय की

दीवार पत्रिका का अगला अंक लोकगीतों पर केन्द्रित किया जाए।

लोकगीत विशेषांक

मैं विद्यालय गया और बच्चों के साथ इस सम्बन्ध में खुलकर पूरी बात की, उनका नज़रिया जाना। फिर आपसी निर्णय से दीवार पत्रिका के उस अंक को 'लोकगीत विशेषांक' के रूप में निकालने की योजना बनी। मैंने यह प्रश्न भी रखा कि हम इन लोकगीतों को लेकर क्यों काम कर रहे हैं और इनकी हमारे जीवन में क्या उपयोगिता हो सकती है। बच्चों ने अपनी-अपनी समझ से विचार रखे। यह भी तय हुआ कि प्रतिदिन के अनुभवों को अपनी-अपनी डायरी में दर्ज किया जाएगा। यह भी बात हुई कि गीतों को केवल लिखना भर नहीं

है बल्कि उन गानों की लय और उनसे जुड़े प्रसंग को भी समझना है।

अंक पन्द्रह दिनों बाद निकलने वाला था और इन पन्द्रह दिनों में बच्चों ने उन गीतों को न केवल खोजने की कोशिश की बल्कि उनके महत्व को भी गहराई से समझा। मैंने अनुभव किया कि बच्चे अपनी लोक परम्परा से जुड़े रहे हैं। दीवार पत्रिका का यह अंक उनके लिए चुनौतीपूर्ण और रोचक था। बच्चों ने उन गीतों को अपनी दादी-नानी से सुना-सीखा-लिखा। जब दीवार पत्रिका को अन्तिम रूप देने की बारी आई तो मैंने उनके अनुभव जानने की कोशिश की। उनके अनुभवों में इन गीतों के संरक्षण की छटपटाहट थी और आँखों में लोकस्वर की पहचान का सपना भी। केशकली ने कहा, "मैंने ये गीत कभी नहीं सीखना चाहा



क्योंकि मैं इन्हें पिछड़े लोगों के गीत मानती रही हूँ। लेकिन अब मुझे एहसास हो रहा है कि मैं नासमझ थी।" वहीं वंदना, सुमन, भारती एवं आरती का विचार है कि इन गीतों को सीखकर इस धारा को वे आगे बढ़ाएँगी।

इस अंक के लोकार्पण के लिए पालकों को बुलाया गया, उनमें महिलाएँ

भी थीं। बच्चों को ही कार्यक्रम का संयोजन-संचालन करना था। दीवार पत्रिका के लोकार्पण के बाद बच्चों ने सिलसिलेवार सारी बातें सामने रखीं, अपने अनुभव साझा किए। यह भी बताया कि यह विषय क्यों चुना गया और उनकी अब क्या समझ बनी है।

वहाँ उपस्थित फाग गायक मातादीन ने कहा कि हमारे इन गीतों में माटी की सोंधी खुशबू है। ये केवल बोल भर नहीं हैं इनमें हमारा अतीत विविध रूपों में सामने आता है। ये हमें समाज में जीना-रहना सिखाते हैं। हमने इनकी कद्र नहीं की और आज ये मर रहे हैं। भूरी ने कहा, “हमारे घरों में विवाह के बाद बहू के साथ महिलाएँ मिल बैठकर हँसती-गाती हैं। कई सालों से मैं गाँव में देख रही हूँ कि आने वाली बहुएँ ऐसे अवसरों पर फिल्मी गाने गाती हैं। यह हमें अच्छा लगता था कि हमारी बहुएँ नए चलन के गाने गा रही हैं और हमें गर्व महसूस होता था। लेकिन यह कभी न समझ पाई कि हम अपनी जड़ों से कटे जा रहे हैं। लड़कियाँ कहती हैं कि ये देहाती गाने हैं, इन्हें गाने में शर्म आती है। जब इन बच्चों ने लिखने के लिए हम लोगों से गीत सुनाने को कहा तो हमें एक बार तो गुस्सा आया। अब हम समझ गए कि हम कितने खोखले हैं। आज सबके सामने कहती हूँ कि अब यह मेरी जिम्मेदारी होगी कि बच्चों को ये गीत सिखाने का माहौल बनाऊँ। अब हमें सचेत हो जाना चाहिए, नहीं

तो हम अपनी पहचान खो बैठेंगे।” बच्चों के साथ दीवार पत्रिका पर काम करने वाले शिक्षक रामकिशोर पाण्डेय के चेहरे पर बहुत कुछ पा लेने का विश्वास झलक रहा था।

दीवार पत्रिका: बदलावों की नींव

इसी बीच हमारे प्रयोग के दूसरे विद्यालय (प्राथमिक विद्यालय) में नियमित रूप से दीवार पत्रिका निकल रही थी। शिक्षामित्र के रूप में वहाँ काम कर रहे बेहतर समझ और उत्साह से लबरेज़ इंसाफ अली, जो ‘शैक्षिक संवाद मंच’ में शुरुआती दिनों से काम कर रहे थे, का सहयोग मिलना हमारे काम को आसान बना रहा था। वे बच्चों के साथ मिलकर दीवार पत्रिका पर काम कर रहे थे। एक बार दीवार पत्रिका के एक अंक की तैयारी के सन्दर्भ में मैं उनके विद्यालय पहुँचा तो वहाँ बच्चों के श्रमदान को देखकर दंग रह गया। विद्यालय के सामने के छोटे-से मैदान के ठीक बीच में विद्यालय की पुरानी इमारत का एक ऊँचा ऊबड़-खाबड़ चबूतरा था जो बच्चों के खेलकूद और अन्य गतिविधियों में एक बड़ी बाधा के रूप में खड़ा था। शिक्षक उसे खोदकर मैदान को समतल एवं चौरस करना चाहते थे ताकि बच्चों के खेलने के लिए एक सुरक्षित जगह निकल आए। लेकिन इसके लिए स्कूल में कोई बजट नहीं था। इंसाफ अली पिछले दस दिनों से कुछ बड़े बच्चों के साथ प्रतिदिन एक घण्टे के श्रमदान के द्वारा चबूतरे को खोदकर उसकी

मिट्टी को मैदान के निचले हिस्से में बिखेरने और गड्ढों को भरने के काम में लगे हुए थे। अभी वे चबूतरे का दसवाँ हिस्सा भी नहीं काट पाए थे। काम इतना आसान भी न था जितना सोचा गया था।

बातचीत के क्रम में बच्चों ने बताया कि लगभग 10 दिनों बाद विद्यालय में दीपोत्सव कार्यक्रम आयोजित है। उसके पहले चबूतरे को खोदकर समतल करना होगा ताकि सभी के बैठने की समुचित और बेहतर व्यवस्था की जा सके। मैंने काम कर रहे बच्चों से पूछा कि स्कूलों में तो बच्चों से काम नहीं करवाया जा सकता फिर आप लोग क्यों काम कर रहे हैं। उनमें से एक बच्चे अभिशान्त ने कहा, “अभी तक हम भी यही मानते

थे और हमारे मम्मी-पापा भी काम करने को मना करते थे लेकिन एक बार दीवार पत्रिका में इंसाफ सर ने श्रमदान पर हमसे लिखवाया। लिखने के बाद पता नहीं क्यों ऐसा लगने लगा कि हमें स्कूल में और अपने घर में भी काम करना चाहिए।” दूसरे बच्चे इमाम हसन ने बात जोड़ी, “अब काम करने में मज़ा आने लगा है।” शीलू और रोशनी बोलीं, “अब हम लड़कों के साथ काम करते हैं और एक-दूसरे से सीखते हैं, मिलकर कुछ भी अच्छा कर सकते हैं।”

फिर हम सब दीवार पत्रिका के नए अंक के काम में जुट गए। बच्चों के साथ दीवार पत्रिका में प्रकाशित कविता, गीत, कहानी, चुटकुले पर



बात करते हुए मेरी नज़र समाचार स्तम्भ पर पड़ी जिसमें विद्यालय और गाँव के समाचारों को स्थान मिला था। मैंने सुझाव दिया कि इस श्रमदान का समाचार देते हुए गाँव के लोगों को विद्यालय के चबूतरा-खुदाई के काम में जुटने का सानुरोध आमंत्रण देना कैसा रहेगा। संशय था कि लोग आएँगे या नहीं।

अन्त में एक राय बनी और वहीं पर बच्चों और शिक्षकों के साथ बैठकर एक प्रारूप तैयार किया और उसे दीवार पत्रिका के नए अंक में लिखा गया। जब दीवार पत्रिका का अगला अंक प्रकाशित हुआ तो विद्यालय प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष, समिति सदस्यों और अभिभावकों को विमोचन के अवसर पर बुलाया गया। सभी के सम्मुख उसे पढ़कर सुनाया गया, सभी ने प्रशंसा की।

चबूतरे सम्बन्धी श्रमदान को पढ़-सुनकर उपस्थित ग्रामवासियों ने आपस में चर्चा की और कुछ ही देर में फावड़ा, गैंती और तसले लेकर काम में जुट गए। इनमें कुछ वे नवयुवक भी शामिल थे जो पहले शिक्षकों-बच्चों को काम करते हुए देखकर हँसते और

तंज कसते हुए निकल जाते थे। प्रतिदिन दो घण्टे के श्रमदान से पाँच दिनों में उस चबूतरे को वहाँ से साफ कर दिया गया। दीपोत्सव कार्यक्रम के पहले मैदान तैयार था। उन सबके चेहरों पर अपने विद्यालय के लिए कुछ कर पाने की खुशी और अप्रतिम तेज झलक रहा था।

तभी यह निर्णय भी लिया गया कि अब प्रत्येक अंक को गाँव के प्रमुख स्थानों पर कुछ समय के लिए लगाया जाएगा ताकि गाँव के लोग भी पढ़ सकें। लोग न केवल दीवार पत्रिका के अंक पढ़ते हैं बल्कि अपनी प्रतिक्रिया भी देते हैं। वे प्रतीक्षा करते हैं कि नया अंक कब आने वाला है और उसमें क्या-क्या होगा।

दीवार पत्रिका का यह रूप मेरे लिए किसी आश्चर्य से कम नहीं था क्योंकि हमने कभी सोचा ही नहीं था कि दीवार पत्रिका विद्यालय की चहार-दीवारी को लांघकर समाज में अपना प्रभाव और सम्बन्ध स्थापित करते हुए बदलावों की आधार-भूमि भी बन सकती है। मुझे लगता है कि हम इसे इस विधा की एक बड़ी उपलब्धि के तौर पर देख सकते हैं।

प्रमोद दीक्षित 'मलय': बीआरसी नरैनी, ज़िला बाँदा (उत्तर प्रदेश) में सह-समन्वयक हिन्दी भाषा के पद पर कार्यरत। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। कई पुरस्कारों से सम्मानित। नवाचारी एवं शैक्षिक मुद्दों पर लेखन में विशेष रुचि।

सभी फोटो: प्रमोद दीक्षित 'मलय' और रामकिशोर पाण्डेय।

इससे सम्बन्धित महेश झरबड़े का लेख पढ़िए 'सफरनामा: एक बाल अखबार का' संदर्भ-अंक 82 में।